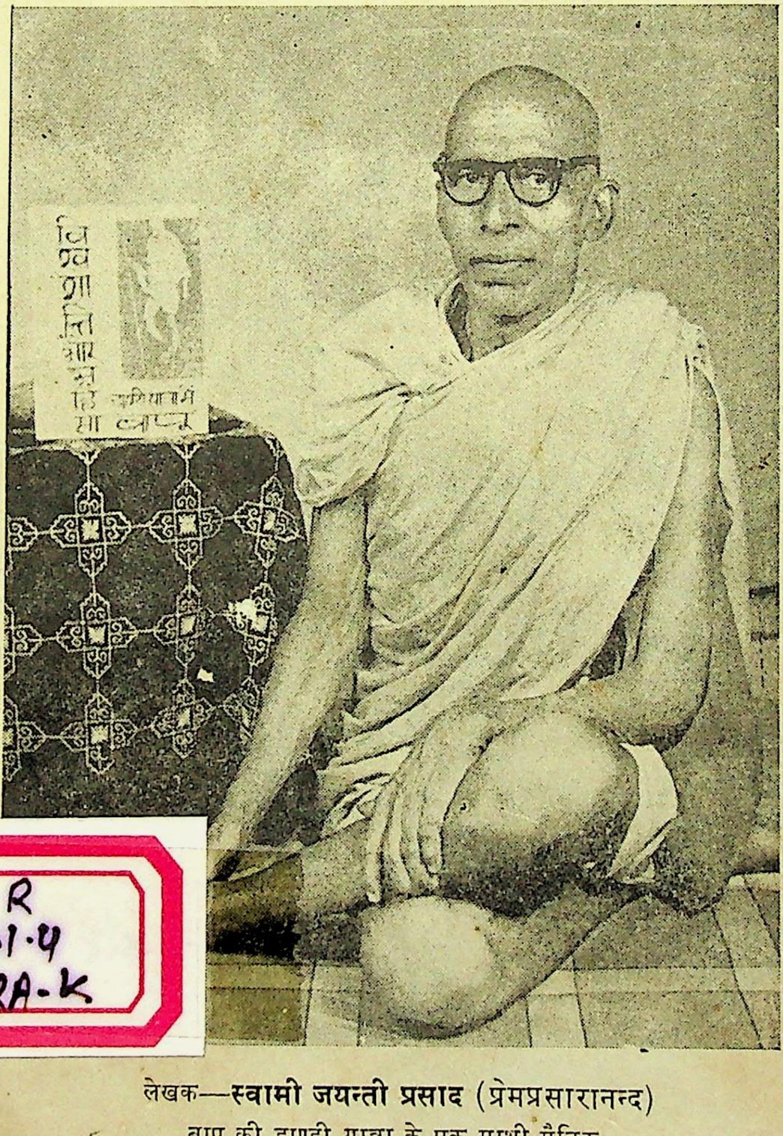
ख़ाँ साहब के ख़यालात का इज़हार



लेखक—**स्वामी जयन्ती प्रसाद** (प्रेमप्रसारानन्द)
बापू की डाण्डी यात्रा के एक साथी-सैनिक

[मूल्य ५० पैसे

खाँ साहब से शंका के समाधान की याचना

हिंसा पर अहिंसा की एक असाधारण, अद्वितीय, अजेय-शक्ति का अनुपम, अनुकरणीय, अनुभूत उदाहरण—

बेहद खूँख्वार सरहदी पठानों के सरदार बादशाह खाँन अहिंसा के पुजारी "सरहदी गांधी" कैसे बन गये ?

बापू के "साबरमती आश्रम" में हमने जब सुना कि बादशाह खान आज़ादी की तहरीक़ में शामिल होने के लिये हिन्दुस्तान तशरीफ़ ला रहे हैं तो उस ख़बर को पाकर हम आश्रम वासियों को बड़ा ताज्जुब हुआ।

वह खूँख्वार सरहदी-पठान जो खून का बदला खून ही मानते हैं, उनके सरदार बापू की अहिंसा के उसूल को कहाँ तक क़बूल कर सकेंगे; इस बात का हमें यक़ीन नहीं होता था।

हम लोगों ने बन्नू और कोहाट में पठानों के कारनामों के बहुतेरे हालात समाचार पत्रों में पढ़े व सुने थे कि वे किस तरह अँग्रेज़ अफ़सरों और उनकी औरतों आदि को उठवा कर ले जाते थे और मुँह माँगी रक़में वसूल करके वापिस करते थे।

दर्रों में छुपकर अँग्रेज़ों की गश्ती टुकड़ियों पर अपनी रायफ़िलों का ऐसा अचूक निशाना लगाते थे कि उससे बचकर निकलना नामुमकिन होता था। अँग्रेज़ों की फ़ौज उन्हें परास्त करने में नाकामयाब रहती थी। पौलिटिकल एजेण्ट उनके जिरगों के सरदारों की मजलिस बुलाकर हर सूरत से मेल-मिलाप करने की बेहद कोशिश करता था। यहाँ तक कि उन पर क़ाबू पाने के लिये उन्हें भारी प्रलोभन भी देता था। बावजूद इसके कोई भी तदबीर कारगर नहीं होती थी। अँग्रेज़ी फ़ौज के हौसले पस्त थे, आखिरकार वे अपनी सारी पाशविक ताक़त लगाकर उन पर बेरहमी के साथ क़ाबू पाने के लिये विवश हो जाते थे।

उसी खूँख्वार क़ौम के सरदार बादशाह खाँन बापू की शरण

में एक दिन "साबरमती आश्रम" में आ ही गये। बापू ने उन्हें हृदय से लगाकर खुलेदिल से अपनाया। वे विशाल काय खाँन, जिनके आगे हम "आश्रमवासी" नन्हे-नन्हे से बच्चे जान पड़ते थे।

हमें ऐसा आभास हुआ कि मानो खाँन की सादगी, नम्रता, मुस्कराहट व मुहब्बत भरी निगाहें हमें अपनी ओर आकर्षित कर रही हों। यह बापू का सेवक तो अपने अतिरिक्त समय में अधिकतर खाँन की ख़िदमत में मशगूल रहता था, जो हमें पुत्रवत स्नेह करते प्रतीत होते थे।

खाँसाहब अपने उस आश्रम में एक ऐसे पालतू शेर की तरह घूमते फिरते थे; जिसने गुर्राना तक छोड़ दिया हो। खाँन के स्वभाव में ऐसा आश्चर्यजनक, अभूतपूर्व, असाधारण परिवर्तन, बापू के आत्मिक बल, सच्चाई और उनके अडिग अहिंसा के प्रभाव के कारण ही हुआ और इसी से उन्हें इतना बड़ा रुतबा मिल सका।

घटना इस प्रकार से है—एक बार बादशाह खाँन कलकत्ते में होने वाले "मुस्लिम लीग" के जल्से में शरीक़ थे। वहाँ उनके साथी लीगी नेताओं में किसी साधारण से मतभेद पर चाक़ू चलने तक की नौबत आगयी। बादशाह खाँन और उनके साथी लोग यदि वहाँ न रहे होते तो बुरी तरह मारकाट मच जाती।

उन्हीं दिनों वहाँ "कांग्रेस वर्किङ्ग कमेटी" की बैठक हो रही थी। खाँन, उसे भी देखने गये। उस समय वहाँ बापू का व्याख्यान चल रहा था। उसी के बीच-बीच में "राजा" नाम के एक युवक ने बड़ी बेहूदगी के साथ बार-बार बापू से खड़े होकर कहा कि—"तुम कायर हो।" यह सुनकर बापू सहज स्वभाव से साधारणतया उसकी ना समझी पर हँस देते और बिना किसी हील-हुज्जत के अपना प्रवचन बराबर जारी रखते। इतनी असाधारण सहनशीलता थी उनमें।

उपरोक्त घटना से खाँन को बेहद ताज्जुब हुआ। वे विचार करने लगे कि—"एक ओर उनके लीगी नेताओं का क्रोध भरा हिंसक-स्वभाव, दूसरी ओर बापू का मानवतापूर्ण सहनशील उदार-स्वभाव।"

बापू के इस समत्वपूर्ण, संयमित, शान्त, सरल और सरस स्वभाव ने ख़ाँन के दिल पर अहिंसा की एक ऐसी गहरी, अमिट-छाप लगादी कि वे बापू के सदा के लिये सेवक बन गये।

वही खाँन गत् १ अक्टूबर १९६९ को बापू की 'जन्मशताब्दी' के अवसर पर फिर से भारत तशरीफ़ ला रहे हैं, यह खबर पाकर हमें बेहद खुशी हुई। परन्तु फिर भी चिर-परिचित प्रेमी, आदरणीय अतिथि के एक लम्बे अरसे तक दर्शनों से महरूम रहने के कारण, मिलने की अत्यन्त उत्कण्ठा होते हुए भी उनके समूचे भारत के भ्रमण व भाषणों में सम्मिलित होने की अपनी उस चाह को एन-केन-प्रकारेण दवाये रहे। चूँकि हमें उनको अपनी स्वलिखित "विश्व-शान्ति और अहिंसा" नामक पुस्तक नज़र करनी थी। हम उस पुस्तक को लेकर ही उनसे मिलने का दृढ़-कङ्कल्प कर चुके थे। उसी की तैयारी में तल्लीन रहने के सबब से हम उनके सत्सङ्ग, सहवास व सेवा से वंचित रहे। यदि पुस्तक नज़र करने की नीयत न होती, या इस बात का अहसास हो जाता कि उसे नज़रन्दाज़ किया जायगा, तो क्यों हम इस झंझट में इधर-उधर उलझे पड़े रहते? क्यों न साया के समान सारे भारत भर में उन चिर-परिचित ख़ाँ साहब के साथ लगे फिरते?

हमें यकायक जब यह जानकारी हुई कि वे ८ फरवरी को भारत से तशरीफ़ ले जा रहे हैं, तो अपने निश्चय के अनुसार जैसे-तैसे अपनी उस ~~अनुपम~~ सात्विक भेंट को लेकर तारीख ६ फ़रवरी को तीसरे पहर गांधी शताब्दी के सैक्रेटरी श्री देवेन्द्र भाई आदि की सहायता से बमुशकिल तमाम दिल्ली में उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त कर सके। यदि हमें उनसे विचारों के आदान-प्रदान का सौभाग्य हासिल हुआ होता, तो हम उन्हें भारत की सही स्थिति से अवगत कराते। हमारा ख़याल है कि निष्पक्ष लोगों से उनका मिलना नहीं हो पाया है।

हमने तो हिन्दू-मुस्लिम सवाल को एक लम्बे अरसे से दिल से निकाल दिया है और अपनी आत्मीयता की असलियत के कारण ही लम्बे लेट कर खाँन साहब को साष्टाङ्ग-दण्डवत की थी। झोले में कुछ फल-फूल लेकर भी गये थे; जैसा कि अपनी सनातन-संस्कृति

का दस्तूर है कि "बड़े लोगों से कुछ भेंट के साथ ही मिला जाय।" परन्तु जब पुस्तक ही स्वीकार न हुई तो फलों को कौन लेता। पुस्तक भेंट की परन्तु यह कह कर कि यह हिन्दी में है; उसे क़बूल न किया गया। हो सकता है कि हिन्दू संस्कृति से वाक़िफ़यत न होने के कारण लम्बा लेट कर सलाम झुकाने के सबब से, सेवक को हकीर व कुछ याचना करने वाला समझ लिया गया हो और वे कुछ देना न चाहते हों। परन्तु उनके साथ लगे हुए हिन्दू तो उस हमारे द्वारा किये गये आदर्श अभिवादन की अहमियत को उन्हें समझा ही सकते थे। हमारी पुस्तक "विश्व-शान्ति और अहिंसा" की सामयिक उपयोगिता तो स्वयं सिद्ध है। विशेष कर वर्तमान-काल में जबकि हिंसा की भावना प्रज्ज्वलित होकर लोगों को मार-काट तथा खून-ख़राबी के गर्त में ढकेल रही है।

यदि हमारी भारतीय बोलचाल की भाषा में खाँ साहब बात चीत और तक़रीर न करते रहे होते। पश्तो आदि बोलते रहे होते तथा हिन्दी के अखबारों में शाया हुए विरोधी विचारों को दुभाषियों द्वारा जान कर उनका जवाब वक्त न फ़वक्तन् न देते रहे होते, तब तो हम हिन्दी में छपी हुई अपनी पुस्तक का स्वीकार न किया जाना, उनकी हिन्दी न जानने की साधारण सी मजबूरी का कारण ही मान लेते। परन्तु इस सूरत में हर खासोआम के खयाल में तो हिन्दी लिपि का विरोध ही ज़ाहिर होता है।

हम किस आधार से अपने आप को समझा कर अपनी और दूसरों की तसल्ली करें? खुद खाँ साहब से ही हमारी यह दूबरूद्द दरख्वास्त है कि वे इस बात की हक़ीक़त पर रौशनी डालें। अन्दाज़ की बात का तो यह दावा नहीं किया जा सकता कि वह सदा सही ही साबित हो।

यदि खाँ साहब ने यहाँ पर अपने मुल्क की जुबान में ही तक़रीरें की होतीं तो यह देश उनके यहाँ आने का कतई कोई फ़ायदा नहीं उठा सकता था और न उन्हें ही यहाँ से कोई धेले भर भी फ़ायदा पहुँच सकता था। भाषा की जानकारी से ही दोनों जानिब फ़ायदा या नुकसान जो भी कुछ हुआ; पहुँच सका। बिना एक-दूसरे की भाषा की वाक्फियत के, आपस में अपने पन का भाव

हरगिज़ नहीं आ सकता। चाहे हम एड़ी से चोटी तक का ज़ोर लगाएँ। कितना भी वाक्-चातुर्य चलाएँ। हमारा यह अनुभूत विचार है। हम श्री अरविन्द आश्रम "पाण्डिचेरी गये थे। वहाँ के मुसलमान जो हमारी चालू भाषा बोलते थे। वे हमें अपने भाई जैसे लगते थे। उनके प्रति प्यार पैदा होता था और वहाँ के सभी हिन्दू हमें ग़ैर जान पड़ते थे। उनके साथ अपनी विशेष हमदर्दी नहीं थी, उतनी ही थी, जितनी कि मानवता के नाते अन्य जीवों से होती है। अपने इसी अनुभव के आधार पर हम मिली जुली भाषा लिखते हैं। ताकि एक-दूसरे के नज़दीक आवें। कुछ दूसरे लोग हमारी और कुछ हम दूसरों की जुबान जानने की कोशिश करें। ताकि परस्पर प्यार पैदा हो। दूसरी जुबानों की जानकारी बनी रहे और जुबानें भी ज़िन्दा रही आयें। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कोई भी जीवित भाषा तभी तक जीवित रह सकती है। जब तक दूसरी भाषाओं के शब्दों को आत्मसात करने की, उसमें क्षमता विद्यमान है। इसके विपरीत अपने को पूर्ण कहलाने वाली भाषा जन-साधारण के हेतु बहुधा मृत प्राय: बन जाती है। "जुबान मरी तो हम मरे," यह पक्की बात है। आश्चर्य है कि जिस हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी में उन्होंने, भारत भ्रमण के अवसर पर, भाषण करके अपने विचार जनता के सन्मुख रखे हैं, उसी भाषा में लिखी हुई पुस्तक के प्रति ऐसी उदासीनता।

वैसे, विद्वान समाज में किसी भाषा या लिपि का उतना महत्व नहीं है, जितना कि उस पुस्तक के विषय का होता है। वास्तविकता तो यह है कि खाँ साहब के, हमारी पुस्तक में गर्भित आख्यान—अहिंसा की उपासना का सङ्कल्प लेने के कारण ही स्वर्गीय बापू ने उन्हें अपना प्रिय शिष्य स्वीकार किया था और उस स्वीकृति को मुकुट पहनाते हुए, भारतीय जनता ने उन्हें "सरहदी गांधी" के नाम से विभूषित किया है।

"सर्व धर्म समभाव" की मान्यता के आधार पर सर्वोपरि बात यह है कि लिपि बदलवा कर हमारी भेंट की हुई किताब का भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद कराके, देश-देशान्तरों में अहिंसा सिद्धान्त का प्रचार और विश्व की ध्वंशात्मक प्रवृत्ति का खात्मा करने का

प्रयत्न करके सही माइने में "खुदाई खिदमतगार" होने का दावा पूरा कर सकते थे।

इससे विश्वभर में विचारों का आदान प्रदान होकर एकता ही बढ़ती, मानवता निकसित होती, प्रभु का सानिध्य प्राप्त होकर लोक-परलोक सुधरता। कितना बड़ा काम होता। सबसे बड़ी बात यह होती, कि सारे संसार में अहिंसा के उपासक के नाते उनकी सच्चाई का सिक्का जम जाता।

मानव का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है; अपने प्रति दूसरों का विश्वास पैदा कराना और इसकी सफलता इसमें है कि एक दूसरे के दुःख-दर्द में सम्मिलित होना। किसी की उपेक्षा और अवहेलना करके उसके दिल को दुखाया न जाय। स्वधर्म पर आरूढ़ रहते हुए भी उसे दूसरों पर लादने की नीयत न रखी जाय। नीयत बिगड़ी और काम बिगड़ा; यह निर्विवाद सत्य है।

हमें बेहद ताज्जुब है कि जिस "सत्य-सहिंसा" के आधार से उन्हें बापू की देन "अहिंसा वृत्ति" द्वारा इतना सम्मान प्राप्त हुआ है, जितना कि बड़े से बड़े हिंसक हिटलर को कभी हासिल नहीं हुआ था।

यदि वे हिंसक ही बने रहते तो उन्हें आज की जैसी असाधारण प्रतिष्ठा प्राप्ति न होती। फिर भी उसी अहिंसा के सिद्धान्त की पोषक पुस्तक को, इस भाषा भेद के कारण ठुकरा दिया गया। अभ्यास, प्रत्यक्ष अनुभव तथा जीवन के अनेक ज्वार-भाटों की चपेट सहन करने के पश्चात्, प्रकट प्रस्तुत विषय पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए, हमने इसे संकलित किया है। ऐसे उपयोगी विषय की अवहेलना तो गांधी दर्शन में स्वयं एक हिंसात्मक कर्म है।

हमारा विश्वास है कि इस पुस्तक का पढ़ना-पढ़ाना अहिंसा के विधान के सर्वथा अनुकूल होता। विषय के अविकल प्रभाव के कारण इस पुस्तक की भूमिका में बापू के अनुयायी भक्त और 'बापू-कथा' आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता भूतपूर्व शिक्षा सचिव श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने अपने प्रबल समर्थन द्वारा प्रमाण स्वरूप लिख कर इस पर अपनी पुष्टि-छाप लगा दी है।

उसी अहिंसा सिद्धान्त की 'परम पोषक पुस्तक' की भी खॉन ने उपेक्षा करके हिंसा कर दी। उनके इस आश्चर्य जनक आचरण से हमारे भावुक हृदय को गहरा आघात पहुँचा। भारत के लोगों की भाँति, क्या बापू के अनन्य-भक्त कहलाने वाले खाँ साहब भी उनके आदर्शों और उपदेशों को भूल गये ? इसे ही सच्चे अहिंसक मानसिक हिंसा मानते हैं। यह हिंसा तो स्थूल शरीर की हिंसा से भी अनेक गुनी बढ़ कर है। शरीर की समाप्ति के पश्चात् कोई खास क्लेश व कष्ट तो शेष नहीं रहता। परन्तु दिल को दुखाने वाले अलफ़ाज़ और कारनामे तो ज़िन्दगी भर के लिये इन्सान के दिल पर एक गहरी दरार डाल देते हैं; जो कभी नहीं मिटती।

हमें अत्यन्त दुःख के साथ यह लिखने के लिये विवश होना पड़ रहा है, कि पूज्य बापू के परम-भक्त समझे जाने वाले "बादशाह खाँन" जिन्हें "महात्मा गांधी" की अहिंसा पर आस्था रखने के कारण ही भारतीय जनता ने "सरहदी गांधी" की उपाधि से विभूषित किया था, इतनी इज्ज़त बख्शी थी। परन्तु इस उपरोक्त हादसे से हमें ऐसा महसूस होता है कि यह महान् विभूति भी सर्व-साधारण की भाँति कहीं भाषावाद आदि व्याधि में न उलझ गयी हो ?

हमारे विचार से ही नहीं, वरन् सभी निष्पक्ष समझदार व्यक्तियों के विचार से उचित यही था कि हिन्दी ही नहीं, हर भाषा के विचारकों के लेखकों—चाहे वह किसी भाषा या प्रान्त का ही क्यों न हो, लेकर उसे सुन-समझकर विश्व सुधार की ज़िम्मेदारी लेने वाले सुधारकों को तो उसका कोई सही हल, सुधार के लिये अवश्य निकालना चाहिये।

हमें अफ़सोस है। हम बार-बार अपने इस मौजूदा दर्द का इज़हार करने के लिये मज़बूर हैं। हमारा दिल बैठ-सा गया है। हम पुनः स्पष्ट करने के लिये विवश हैं कि हमने उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा के फलस्वरूप ही, अति दीन होकर, भारतीय परम्परा के अनुसार इस्तक़बाल के लिये साष्टाङ्ग दण्डवत की थी। बावजूद इसके भी वे न जाने क्यों कर अपने पूर्व परिचित सेवक को भी

अपना प्यार न दे सके; जिसका कि वह अपनी असाधारण श्रद्धा के सबब से सबसे अधिक मुस्तहक़ था।

माना कि वे उस समय जाने की जल्दी में थे। उस सूरत में भी एक भारी-भरकम और समझदार वयोवृद्ध के लिये आयु जनित रूप से उचित यही था कि वे वापियी में आने पर मिलने का आश्वासन देकर जाते। उस असाधारण अभिवादन की सूरत में यह तो मामूली इन्सानियत का तकाजा था; जो कि उनके किसी साथी को भी न सूझ सका।

एक तरफ़ तो हुजूर का अपनी लिखी किताब में यह कहना कि—**"इस मुल्क के लोग मेरे अपने लोग हैं और उनकी हालत मुझे बेचैन करती है और मेरी आँखें नम हो जाती हैं।"** उसी सिलसिले में वे फिर लिखते हैं कि—**मैं एक खुदाई ख़िदमतगार हूँ। खुदा की मखलूक चाहे वह दुनियाँ के किसी गोशे में हो; खिदमत की मुस्तहक है। इसलिये जब कभी आपको मेरी खिदमत की जरूरत होगी तो आप मुझे अपने साथ पायेंगे।"**

इस विचार को उन्हीं की किताव से पढ़ने पर हमारी शङ्का यह है कि—कहाँ तो अपनेपन का इतना ऊँचा खयाल और कहाँ उसके बरक्स यह अजीव उलटा कमाल। जब किसी के दुःख दर्द को ही न समझेंगे तो उसकी खिदमत करेंगे कैसे? इसी आधार पर हमारा कहना यह है कि चाहे वे हज़ार बार हिन्दुस्तान आयें या हमेशा के लिये यहीं मुस्तकिल रहें, लेकिन इस हालत में न तो वे हर-खासो-आम के दर्द को ही समझ पायेंगे और न इसका कोई इलाज या तीमारदारी ही कर सकेंगे, जब तक कि उनका ज़ाहिर बातिन और अमल यकसॉन होगा, अपने इर्द गिर्द चिपके रहने वालों की कैद से रिहा होकर, स्वतन्त्र रूप से न घूमें-फिरें और मिलें-जुलेंगे; जैसा कि न्याय-प्रिय महाराजा वीर विक्रमादित्य वेष बदल कर दीन-दुखी जनता के कष्टों को रातोंरात जान कर, उनके दुःखों का निवारण करते थे तथा शहंशाह जहाँगीर महल के सदर दरवाजे पर लटके हुए घण्टे के वजते ही फरियादी की फ़रियाद फौरन से पेश्तर सुन कर और उसकी असलियत को जानकर सही-सही न्याय करने की पूरी कोशिश करते थे, तभी तो उनकी न्याय-प्रियता के कारण हिन्दू प्रजा भी उन्हें तहेदिल से प्यार करती थी।

शायद वे तो भूल कर भी "खुदाई ख़िदमतगार" होने का दावा नहीं करते होंगे। सिर्फ इन्सानियत के नाते अपना फर्ज अदा करते थे। असलियत यही है कि पहले सही अर्थ में इन्सान वना जाय, तब कहीं "खुदाई ख़िदमतगार" बनने का स्वप्न पूरा हो। खाली लैक्चर बाजी और लफ्फाज़ी ही काफी नहीं होती। दुनियाँ तो उसके अनुसार अमल चाहती है।

दूसरी दिक्कत यह भी है कि सन्मानित व्यक्तियों के हमराह रहकर, उनकी व्यवस्था का समुचित प्रवन्ध करना, हर किसी के काबू का काम नहीं होता। पगड़ी बँधे किसी के सिर पर और बाँधना आता हो किन्हीं दूसरों को, फिर भला संतोषजनक कार्य कैसे किया जा सकता है? सही पायन्दाज़ ही चाँदनी को निर्मल रख सकता है।

भाषा-वाद पर बल देने से तो विश्व में विशेष अशान्ति फैलने की पूर्ण आशङ्का है। इसीलिये "राष्ट्र-पिता" गांधी का आदेश है कि—**"हम प्रत्येक भाषा और धर्म का सन्मान करें।"**

हम गांधी भक्तों को खासकर खाँ साहब को तो अवश्य उनके उपरोक्त आदेश का पालन करना लाज़िमी फर्ज है? ताकि उन पर—'दिगरा नसीहत और खुदरा फज़ीहत' का कोई लांछन न लगा सके।

भगवान् हम सभी को सद्बुद्धि व शक्ति प्रदान करें, जिससे हम राग-द्वेष पूर्ण द्वैत के इन दानवी विचारों के दमन करने में सफल सिद्ध हों। हम वल पूर्वक अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को किन्हीं दूसरों पर लादने की नीयत न रखें। सदैव सत्य को ग्रहण और असत्य का त्याग करें।

फिलहाल सन् १९७० में जाते-जाते 'गांधी-भक्त सरहदी गांधी' बादशाह खाँन द्वारा भारत में "खुदाई खिदमतगार" बनाने वाली संस्था की स्थापना होते देख कर हमें हार्दिक हर्ष हुआ। परन्तु यह जानकर दिल दुःखी भी हुआ कि हमारी जानकारी में उस कमेटी में कुछ ऐसे ज़हरीले तत्व भी शामिल हो गये हैं, जो असहिष्णु, क्रोधी, धर्म-विरोधी, ईश्वर सत्ता के अविश्वासी और बापू के—

"सर्व धर्म समभाव" के सिद्धान्त को बिलकुल न मानने वाले तास्सुबी लोग हैं, जो कि दूसरों पर दिन-रात गालियों की बौछार करने और कीचड़ उछालने के आदी हैं। हमें सन्देह है कि ऐसे अनधिकारी, अयोग्य मल्लाहों द्वारा वह किश्ती किस तरह किनारे लगेगी ?

इसके साथ ही दूसरा सन्देह यह भी है कि जिस स्वार्थ के संसार सागर में भाँति-भाँति के भयङ्कर भंवर पड़ते रहते हैं और जहाँ तरह-तरह के भयानक जीव-जन्तु भक्षण करने के हेतु, मुँह बाए, टकटकी लगाये, उधार खाये बैठे रहते हैं, उस नौका और उसके यात्रियों का अल्लाह ही मालिक है, ईश्वर ही रक्षक है।

"खुदाई खिदमतगार" का अर्थ है—खुदा की खिदमत करने वाले। परन्तु वे सर्वव्यापी प्रभु तो संसार में चर-अचर सभी की स्वयं सेवा करते हैं। उस हालत में उन्हें अपने लिये मानव की सेवा की आवश्यकता नहीं होती। अतः खुदा की सच्ची खिदमत का अर्थ है, खुदा की बनायी हुई मखलूक की सेवा। सही व सच्चा सेवा कार्य सदैव मूल से ही आरम्भ होना उचित है।

खुदा की सच्ची खिदमत का अर्थ यह हुआ कि मानव अपनी सुशुप्त उदार भावनाओं को जागृत करते हुए मानव सेवा में जुट जायें।

नीति का कथन है—"उदार चरितानाम्, वसुधैव कुटुम्वकम्" मानवता के अर्थ में व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपना विकास करते हुए,उदार भावना से ओत-प्रोत मन, वचन एवं कर्म द्वारा संसार में सभी चर-अचर को क्रमशः अपना कुटुम्ब मान ले और सदैव उसकी सेवा में रत रहे। जब इस प्रकार विकसित मानव अथवा दूसरे शब्दों में "खुदाई खिदमतगार" सभी के साथ कुटुम्बवत् व्यवहार करने का आदी हो जाय तो भला उसका स्नेह दूसरे जीवों के प्रति हिंसा की भावना से कैसे व्यवहार करेगा ? इसका अर्थ यह हुआ कि सच्चा "खुदाई खिदमतगार" मांसाहारी तो कभी भी हो ही नहीं सकता। जो ऐसा करता है वह अपनी किसी स्वार्थ सिद्धि के लिये "खुदाई खिदमतगार" बनने बनाने का झूठा नाटक रचकर संसार को धोखा

देता है। यदि "खुदाई खिदमतगार" सही अर्थ में कर्तव्य निष्ट है तो वह विश्व शान्ति के लिये एक मेरुदण्ड ही कहलाएगा, मेरुदण्ड ही बन जायगा।

"खुदाई खिदमतगारों की इस संस्था का सही-सही समुचित सङ्गठन करने में भी बड़ी सावधानी बरतने की ज़रूरत है। इनके विपरीत खुदा की खुदाई (मखलूकात) को खा जाने वाले कभी खुदाई खिदमतगार नहीं हो सकते। आशा है कि हमारी यह वेदना खाँ साहब के हृदय तक अवश्य पहुँचेगी।

नाम मात्र के "खुदाई खिदमतगारों की अपेक्षा तो वे मूढ़ जन ही भले हैं जो किसी का भला-बुरा करने की सामर्थ्य नहीं रखते। बनावटी लोगों से बचते रहने में ही समाज का हित है।

शक्ति का सदुपयोग व दुरुपयोग दोनों ही हुआ करते हैं। यह मानवों की नीयत पर निर्धारित रहता है। जब तक मानवता विकसित न होगी, समदृष्टि उत्पन्न न होगी, तब तक सुधार के नाम पर बराबर बिगाड़ होता रहेगा।

हिन्दुस्तान का बटवारा हो जाने के बावजूद भी मतमतान्तरों के नाम पर अलग से भेद भाव के कंटकाकीर्ण विषैले वृक्ष उगाकर नए-नए नामों की नितनई संस्थाएँ खड़ी की जा रही हैं। देश तो पहले ही मौजूदा बेशुमार संस्थाओं से बेहद परेशान था ही। "सर्व धर्म-समभाव" पर निष्ठा न रखने वाले, राग-द्वेष से परिपूर्ण, जाति के विरोधी जन पहले ही पर्याप्त मात्रा में परेशानियाँ पैदा करते रहते हैं। ऐसी धाँधलेबाजी के कुसमय को नाजुक हालक में "खुदाई खिदमतगारों" की संस्था कैसे पनप पाएगी? हमें इसमें सन्देह है और कटुता बढ़ने का पूरा अन्देशा भी है। इन लोगों के द्वारा "धर्म निरपेक्षता" की अपेक्षा, युक्ति पूर्वक मज़हबी कट्टरता भी फैलाई जायगी, तभी "खुदाई खिदमतगारों" की भर्ती की जा सकेगी, अन्यथा उस संस्था में शामिल होने वाले कुछ लोग खुदा को न मानने वाले "खुदाई खिदमतगारों" की की संस्था को कैसे जीवित रख पायेंगे?

बिना दन्द-फन्द किये यदि इसकी सफलता में तनिक भी

आशा होती, तो यह सेवक पहला व्यक्ति था, जो सच्चाई के साथ इस पुनीत कार्य के संचालन में सहर्ष सक्रिय भाग लेता और अविश्रान्त रूप से उसमें आजीवन जुटा रहता। परन्तु हमें तो खतरा यह है कि उपरोक्त प्रकार के "खुदाई खिदमतगारों" द्वारा 'खे' का नुक्ता कहीं ऊपर से नीचे खिसक कर न लग जाय। 'खे' की 'जीम' होकर खुदा से जुदा न हो जाय। जो कि देश के लिये और भी दुखदायी साबित हो। कहीं चौबे से छब्बे होने जायें और दुबे भी न रह पाएँ।

जिन्हें खुद खुदा का विश्वास ही नहीं वे "खुदाई खिदमतगार" कैसे बनें या बना पायेंगे ? अतः अपना नम्र निवेदन है कि बादशाह खाँन इस संस्थान के संरक्षण का पूर्णतया ध्यान रखें। इसे कहीं ग़लत हाथों में सोंप कर न छोड़ दें। खुदा पर भरोसा न रखने वालों का खुद भी हरगिज़ भरोसा न करें।

हम यही आशा करते हैं कि खाँ साहब अपने जीवन-काल में इस संस्था के संरक्षण के लिये समय-समय पर भारत पधारने की कृपा करके इसकी गति विधियों का निरीक्षण करते रहेंगे। यदि ऐसा न कर सकें तो खुदा के लिये इस खयाल का खात्मा ही कर दें। हम अपनत्व के नाते ही यह सलाह देने का साहस कर रहे हैं। ताकि विरोध विशेष बढ़ कर बवण्डर न मच जाय। आपकी तकरीरों पर अधिकांश भारतीय जनता में विरोध बढ़ गया है ; बजाय इसके कि इत्तहाद पैदा होता। एक दूसरे के अधिक नज़दीक आते। इसके अतिरिक्त आपका मिलना-जुलना भी पहले जैसा न रहा। इसके साक्षी और शिकार तो हम स्वयं हैं।

बावजूद इसके भी हम खुद तो आपके खिद्मतगार हैं ही। इसी सबब से अपनी स्वलिखित "विश्वशान्ति और अहिंसा" नामक पुस्तक आप ही की खिद्मत में, इस आशा से फिर भी पेश कर रहे हैं कि आप इसका उर्दू-अँग्रेजी आदि जितनी लिपियों में हो सके, अनुवाद कराके अन्य भाषा भाषियों को भी अपने कबूल किये हुए इस अहिंसा के सिद्धान्त से अवगत् कराके समस्त संसार को "विश्व-शान्ति" की प्रेरणा देने का पुण्य व यश अर्जन करें। आखिर पैसा किस काम आता है और उसे कौन साथ लेकर गया है ?

हमने अपने विचारों को द्वेष से या किसी प्रकार की कुण्ठा के कारण जोश में आकर, अपना होश खोकर आपके इस व्यवहार का विरोध नहीं किया है। हमारा प्रत्येक शब्द व्यक्तित्व के पचड़े से परे, लोक-हित की दृष्टि से, अत्यन्त नेक-नियत से गम्भीरता, निष्पक्षता तथा निर्भीकता पूर्वक विचार द्वारा लिखा गया है। सही बात यही है कि यदि सुधार के नाम पर इस क़दर बिगाड़ हुआ, ग़लत तरीके इस्तैमाल किये गये, लापरवाही हुई, तो लोक-हित होगा कैसे ? वैद्य और तीमारदार दोनों ही नातजुर्बेकार हों तो स्वास्थ्य लाभ की अपेक्षा असाध्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसकी अपेक्षा तो प्रभु और प्रकृति पर छोड़ा जाय तो कहीं विशेष शान्ति और स्वास्थ्य लाभ पहुँच सकता है।

ग़लत करने से न करना, ग़लत सुनने से न सुनना और ग़लत देखने से न देखना, हजार दर्जे अच्छा है। हालत जहाँ की तहाँ बनी रहती है। बिगाड़ तो नहीं होता।

हमें साधारण व्यक्तियों के भूल करने पर कोई आश्चर्य और दुःख नहीं होता। परन्तु जिनमें अपनत्व हो और जिनका विशेष ज़िम्मेदाराना व्यक्तित्व हो। **जिन्होंने देश के हित में अपने भारतीय दौरे के दरम्यान, बापू के आदेशों के विसर्जन करने वालों को बल पूर्वक, बाअधिकार, डाटा-फटकारा हो। उनकी खुद की ही इस पहाड़ जैसी भयङ्कर भूल को कैसे भुलाया जा सकता है ?**

खाँ साहब के द्वारा हमारी आवश्यक भेंट को इस लापरवाही से बिना विचारे ठुकराये जाने पर हमें अपनी सामयिक विश्व की माँग वाली, उलझन को सुलझाने हारी, अति उपयोगी पुस्तक❀

❀ वह पुस्तक अति शीघ्र प्रकाशित होने जा रही है। उसमें हमने नासमझ और उद्दण्ड से उद्दण्ड नव-युवकों पर कागज़ में पूर्णतया क़ाबू पालिया है। नव-युवक उसे सुन व पढ़ कर दुखी होते हैं। देश के प्रति कुछ सोचने लगते हैं। शर्म से उनके नेत्र नीचे हो जाते हैं, वे हमें गाली नहीं देते। कटु शब्दों का प्रहार नहीं करते। वरन् हमारा आभार मानते हैं। हमसे सहानुभूति रखने लगते हैं। क्योंकि हमने बेहद दर्द भरे सरस शब्दों में प्रेम पूर्वक उन्हें आदर और अपनत्व से सम्बोधन करके उनकी भूलें सुझायी हैं। उन्हें—श्रीमान्, प्यारे-पुत्र, दिल के टुकड़े, दादा,

"हम बड़ों की भूल और नवयुवकों से अपील की (जिसमें अखिल भारतीय 'हरिजन सेवक सङ्घ' के अध्यक्ष श्री वियोगी हरि की भूमिका है) चिन्ता हो रही है कि उसे किसी ऐसे जानकार व्यक्ति को भेंट करें, जिससे उसे भी ठुकराया न जाय।

भेंट का स्वीकार न किया जाना तो निश्चय ही नामुनासिब है, मानवता का मखौल है। भेंट-कर्ता का बहुत बड़ा अपमान है। खाँ साहब जैसे चतुर व सफल व्यवहार-कुशल व्यक्ति से हमें यह हरगिज आशा न थी कि वे ऐसी पहाड़ जैसी विशाल भारी भूल करेंगे। जब कि इस देश-वासियों ने उनका इतना असाधारण स्वागत किया है। यह तो भारत की सहिष्णुता तथा सहनशीलता है जो कि अन्य धर्मावलम्बियों के विचारों को शान्ति-पूर्वक सुनते रहते हैं।

भैया, यारो और हुजूर तक कहा है। उनके बिगाड़ में अपनी ग़लतियाँ भी क़बूल की हैं। अपने आपको गुनहगार गाजियन तसलीम किया है। इस विनम्र अपनत्व की अपील से संसार-व्यापी असाधारण उलझन को, क़ागज़ के माध्यम से सुलझा लिया गया है।

यदि 'परिवार नियोजन' की भाँति इस सुधार के पुनीत कार्य में फ़राग़दिली से पैसा खर्च जाय तो यह मसला बड़ी सुग़मता से सुलझ सकता है।

उस पुस्तक में बेहयाई की फैशन का विरोध भी है। इसके परिणाम-स्वरूप नव-युवक तथा विद्यार्थी-समाज को सादा-जीवन उच्च विचार में ढाला जा सकता है। जब विचार उच्च होंगे तो हर प्रकार के सुधार में प्रवृत्ति पैदा होगी। इसलिये सात्विकता तथा संयम के तरीकों से सहज में ही इस योजना के द्वारा बिना व्यभिचार बढ़े "परिवार नियोजन" की सफलता में भी सहयोग व सहारा पहुँच सकता है।

("परिवार नियोजन" की सनातन युक्ति है **'स्वाद पर संयम'**। क्योंकि जिह्वा और जननेन्द्रियों का ख़ास सम्बन्ध है। जब (जौ) का भोजन इसके लिये असाधारण रूप से सहायक है। इस सम्बन्ध में हमारी अनुभूति है; जिसका कि हमें दावा है।)

समझदार सरकारें ऐसे असाधारण प्रयत्नों की सफलता के लिये "नोबिलप्राइज़" तक की शिफ़ारिश करती हैं। वास्तव में विद्यार्थियों की उलझन सुलझाना बहुत बड़ा महत्व रखता है। यदि विद्यार्थी सुधर जायें इनके सिर से गुलामी की ओर तेज़ी से भागने वाला भूत उतर जाय, तो प्रत्येक प्रकार के सुधार और सुनिर्माण का होना संभव हो सकता है।

परन्तु पत्ते-पत्ते पर पानी पटकने से वृक्ष कभी सरसब्ज़ नहीं रह सकता। इसके फूलने-फलने और जीवित रखने के लिये जड़ में पानी देना पड़ेगा। समय-समय पर इसकी निराई-गुड़ाई करनी होगी। अर्थात् मज़हबी मतभेदों को तिलाँजलि देकर—बापू के "सर्व-धर्म-समभाव" की मान्यता के आधार पर—मानवता के नाते हर पड़ौसी के रंजोग़म में शामिल हुआ जाय। हम परिब्राजक हैं, इसलिए ईद में 'सबील' तो नहीं लगा पाते। परन्तु हिन्दू होते हुए भी ईद-मुबारिक कहते-कहते हमारा मुँह दुख जाता है। हृदय प्रफुल्लित होता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मूर्छित मानवता की प्राण प्रतिष्ठा करके उसे पूर्ण स्वास्थ्य प्रदान कर रहे हों। सहज स्वभाव से कोई सवाब का काम करके स्वयं में सन्तुष्ट हो रहे हों।

उपरोक्त तरीकों को अमली जामा पहना कर हम तो हमेशा "खुदाई खिदमतगार" होने की कोशिश में लगे रहते हैं। प्राणी-मात्र की सेवा भी प्रेम-पूर्वक यथा-शक्ति करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु "खुदाई खिदमतगार" हो गये हैं, इस बात का दावा नहीं कर पाते। इसीलिए "खुदाई खिदमतगारों" की खाली खाना-पूरी करना तो हमारे खयाल से बिलकुल ही खोखलापन है। खिलाफ़ है। झूठा आडम्बर है। मजहबी झगड़ों को आमन्त्रित करना है। इस तरह से खुदा को धोखा देना है।

कहने को खादिम तो हैं हज़ारों, घर-घर जो फिरते हैं मारे-मारे
खुदा के खादिम वही हैं सच्चे, खुदा की खलकत को जो प्यार करते॥

यहाँ अपनी उपरोक्त तुकबन्दी के साथ साथ इकबाल का एक शेर लिखने के लिए विवष होना पड़ रहा है :—

"मसज़िद तो बनाली दुनियाँ में, ईमॉ की हरारत वालों ने।
परदिल तो पुराना पापी था, ईमान का साथी हो न सका।"

वास्तव में सत्य जहाँ से भी प्राप्त हो, उसे निष्पक्ष रूप से ग्रहण करके आचरण में उतारना हर मननशील मानव का मुख्य कर्तव्य है। परन्तु इसके लिए साहसी और निःस्वार्थी होना निहायत ज़रूरी है। इसीलिए भारत की परम्परा में "**निष्काम कर्म**" को सबसे अधिक महत्व दिया गया है। स्वार्थी और तास्सुबी भावनाओं में ही सङ्घर्ष है।

हमारे एक प्रेमी जो कदाचित कांग्रेस के कर्मठ कार्य-कर्ता भी रहे हैं, उन्होंने इस उपरोक्त आधार पर खासतौर से हमें दिनाङ्क ४ मार्च सन् १९७० के दैनिक "हिन्दुस्तान अखबार" में से राष्ट्रीयता साम्प्रदायिकता तथा भारतीयकरण पर विचार नामक एक लेख पढ़ कर सुनाया है। उसकी सत्यता एवं सार्थकता का स्वयं पर भी प्रभाव स्वीकार किया है। वे विचार उचित व न्याय-सङ्गत हों, तो उन्हें स्वीकार किया जाना सच्चे शासकों का धर्म है। हाँ! यदि कोरी साम्प्रदायिकता की अनुचित कट्टरता है तो प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों को उसके विपक्ष में अपनी दलीलें देकर उसकी निरर्थकता सिद्ध करनी चाहिए।

शासक व शासितों के विचारों में सैद्धान्तिक मतभेद होने पर शासन में स्थायित्व नहीं रह पाता। यह नीति का निर्धारित, निर्भिरान्त निश्चित सिद्धान्त है। नीति जब स्वार्थों में बदल जाती है, तो उसका विनाशकारी परिणाम स्वार्थियों को अवश्य भोगना होता है।

विश्व शान्ति और अहिंसा

नामक

'पुस्तक' पाठकों के समक्ष शीघ्र प्रकाशित हो रहो है

पुस्तक प्राप्ति के स्थान :—

१. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा,
गढ़ी भदौरिया,
लोहामण्डी, आगरा-२

२. श्री लक्ष्मीनारायण उपाध्याय
उपाध्याय सदन, सिन्धे की छावनी
लश्कर (ग्वालियर)

३. आध्यातम निकेतन
कोटेश्वर रोड,
लश्कर (ग्वालियर)

४. सर्वोदय आश्रम
पाली रजापुर
अलीगढ़ (उ. प्र.)

५. हरदिल अजीज़
डा० केशवदेव सिंह
फ़ीरोज़ाबाद (आगरा)